

M.A.(Education),part-I,paper-II,
Presented by Dr.Pallavi
Topic-प्राचीन काल में नारी शिक्षा
(Women Education in Ancient India)

प्राचीनकाल में लगभग ई०पू० 300 तक नारी का समाज में महत्वपूर्ण स्थान था। पुत्र और पुत्रियों को समाज रूप में शिक्षा देना माता-पिता का कर्तव्य माना जाता था। लड़कियों प्रायः सोलह वर्ष की अवस्था तक अविवाहित रह सकती थीं। बालक के समान बालिका के लिए भी उपनयन के पश्चात् सोलह वर्ष की अवस्था तक उसे शिक्षा दी जाती थी, जिससे उसे योग्य वर मिल सके। अथर्ववेद के अनुसार नारी विवाह के उपरान्त तभी सफल हो सकती है, जब कि उसे ब्रह्मचर्य अवस्था में भली-भांति शिक्षित किया गया हो। यह शिक्षा विशेषकर वैदिक साहित्य से सम्बन्धित होती थी, जिससे वह हवन-यज्ञों, में अपने पति के साथ भाग ले सके।

कवयित्रियाँ

ऋग्वेद में अनेक मंत्रों को रचना महिलाओं ने की। अनुश्रुतियों के अनुसार ऋग्वेद में 20 कवयित्रियों की रचनाएँ हैं, उनमें से कुछ के नाम हैं, विश्वधारा, सिकता, निवावरी, घेषा, रोयशा, लोपामुद्रा, अपाला तथा उर्वशी। यक्ष में पति-पत्नी दोनों को ही समान रूप से सक्रिय रहना पड़ता था।

छात्राओं के प्रकार

छात्रों के इस समय दो वर्ग थे 1-सद्योवधु और 2-सद्योवधु 15 या 16 की उम्र तक जब तक उनका विवाह नहीं हो जाता, अध्ययन किया करती थीं। इन्हें प्रार्थना और यज्ञों के लिए आवश्यक भी शिक्षा दी जाती विषय महत्वपूर्ण वैदिक मंत्र पढ़ाएँ जाते थे, तथा संगीत और नृत्य कला की शिक्षा दी जाती थी। ब्रह्मवादिनी युवतियाँ विशेष योग्यता प्राप्त करने के लिए आजीवन विवाह न करके, अध्ययन करती थीं।

विषय

वेदों के अतिरिक्त अनेक विदुषियाँ पूर्वमीमांसा में भी रुचि लेती थीं। यह एक शुष्क और कठिन विषय है, जिसका सम्बन्ध हवन और यज्ञों की समस्याओं से था। काशमृत्सनी ने मीमांसा पर एक पुस्तक की रचना की थी जिसे उसी के नाम से काशमृत्सनी कहा जाता है। जो छात्राएँ इसका विशेष अध्ययन करती थीं, उसे काशकृत्सना कहते थे। मीमांसा जैसे दुरुह विषय का, विशेष शब्द का निर्माण करना पड़ा। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि साधारण साहित्यिक और सांस्कृतिक शिक्षा ग्रहण करने वाली नारियों की संख्या भी उस काल में पर्याप्त रही होगी।

दर्शन शिक्षा

उपनिषद् काल में जब दर्शन के अध्ययन का खूब प्रचार हुआ तो नारियाँ इसमें भी पीछे नहीं रहीं। याज्ञवल्क्य की पत्नी मैत्रेयी, ऐसी ही नारी थी, जो वस्त्राभूषण की अपेक्षा दर्शन की समस्याओं में अधिक रुचि लेती थी। विदेह के राजा जनक के यज्ञ के अवसर पर जो दार्शनिक शास्त्रार्थ हुआ, उसमें याज्ञवल्क्य से सबसे सूक्ष्म और दुरुह प्रश्न गागी ने पूछे थे, जिससे यह सिद्ध होता है कि वह उच्च कोटि को नैयायिक और दार्शनिक थी। उत्तर रामचरित के अत्रेयी भी ऐसी ही विदुषी थी, जिसने वाल्मीकि तथा अगस्त से वेदान्त की शिक्षा ग्रहण की।

जैन एवं बौद्ध धर्म और नारी शिक्षा

महावीर और बुद्ध ने संघ में नारियों के प्रवेश की अनुमति दे दी थी। ये धर्म और दर्शन के मनन के लिए ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करती थीं। इससे भी शिक्षा के प्रसार में बड़ी सहायता मिली। जैन और बौद्ध साहित्य से पता चलता है कि कुछ भिक्षुणियों ने साहित्य तथा शिक्षा के प्रसार में बड़ा योगदान दिया। उनमें कुछ तो सिंघल जैसे दूर देशों में भी गईं। यहाँ बौद्ध आगमों की महान शिक्षिकाओं के रूप में इतनी ख्याति थी। जैन साहित्य से जयन्ती का पता चलता है जो धर्म और दर्शन के ज्ञान की प्यास में अविवाहित रही और अन्त में भिक्षुणी हो गईं।

परिवार में शिक्षा

सुदीर्घ काल में नारियों की शिक्षा के लिए परिवार के लिए एक मात्र संस्था थी। उनके निकट सम्बन्धी ही प्रायः उनको शिक्षा देते थे। जब भारी संख्या में महिलाओं ने उच्च शिक्षा ग्रहण करना शुरू कर दिया तथा विद्या के विकास में महत्वपूर्ण योगदान देना आरंभ कर दिया तो संभवतः उनमें से कुछ अध्यापन का कार्य भी अवश्य करने लगी होंगी। संस्कृत साहित्य में उपाध्ययायी शब्दों की उपस्थिति इस कल्पना को बल प्रदान करती है। उपाध्ययानी शब्दों के लिए आदर सूचक शब्द है, परन्तु उपाध्यायी शब्द का तात्पर्य तो महिला शिक्षक से ही है। शब्द को नया गढ़ने की आवश्यकता इसलिए पड़ी होगी कि समाज में इनकी संख्या कम न थी।

विद्वान स्त्रियां

यद्यपि साधारण समाज में नारी की बड़ी अवनति हुई, किन्तु उच्च परिवारों में अब भी इनका बड़ा ध्यान रखा जाता था। यद्यपि अब उन्हें वैदिक शिक्षा नहीं दी जाती थी, पर साहित्य को उन्हें पर्याप्त शिक्षा मिलती थी जिससे वे संस्कृत और प्राकृत भली-भांति पढ़ और समझ लेती थी। इस काल में भी अनेक लेखिकाएं और कवयित्रियों हुई हैं। हाल की गाथा में सात कवयित्रियों की रचनाएँ संग्रहीत हैं। शील भट्टारिका अपनी सरल तथा प्रसादयुक्त शैली तथा शब्द और अर्थ के सामंजस्य के लिए प्रसिद्ध थी। देवी लाट प्रदेश को प्रसिद्ध कवयित्रिणी थी। विदर्भ में विजयाका को कीर्ति की समता केवल कालिदास ही कर सकता था। राजेश्वर की पत्नी कवयित्री तथा टीकाकरण दोनों थी। कतिपय महिलाओं ने आयुर्वेद पर पाण्डित्यपूर्ण और प्रमाणिक रचनाएं की हैं जिनमें रूसा का बड़ा नाम प्रसिद्ध है।

प्राचीन समय में साधारण गृह-विज्ञान और ललित कलाओं को भी शिक्षा दी जाती थी। ललित कलाओं में संगीत, चित्रकला और नृत्य कला विषय उल्लेखनीय हैं। बागवानी और माल्यग्रन्थक की कला लड़कियाँ सीखती थीं। धनी परिवारों में बागवानी और ललित कलाओं को सीखाने के लिए अध्यापक नियुक्त किए जाते थे। अग्निमित्र के महलों में गणदास और सोमदास की नियुक्ति इसीलिए हुई थी।

राजकुमारी को शासन प्रबंध और युद्धकला दोनों की शिक्षा दी जाती थी, जिससे वे आवश्यकता पड़ने पर शासनसूत्र संभाल सकें या अपने पतियों को शासन प्रबंध में सहायता दे सकें। सतवाहना राजवंश की नयनिका (150 ई०पू०) और वाकाटक राजवंश की प्रभावली गुप्ता (390 ई०पू०) अपने पुत्रों की अल्पवयस्कता में विशाल साम्राज्य पर शासन करती थीं। कश्मीर की अनेक रानियों ने युद्ध में सक्रिय भाग लिया तथा सुगंध और दिद्वाने ने तो अभिभावकों के रूप में कश्मीर पर शासन भी किया।

प्राचीन भारत में शिक्षा के उद्देश्य एवं आदर्श

हमारी वर्तमान शिक्षा की प्रगति इतनी द्रुतगति से, यदि किसी भी प्रत्यक्ष कारण से संभव हो सकी है तो, अन्य बातों की अपेक्षा, प्रेस को ही इसका श्रेय दे सकते हैं क्योंकि विचारों का प्रचार इसी माध्यम से बड़ी सरलता तथा शीघ्रता से हो सकता है। इसके साथ भारत में अंग्रेजी राज्य के इतिहास के अध्ययन से ज्ञात होता है कि अंग्रेजी

शिक्षा का क्रामिक एवं व्यवस्थित विकास हो सका। किन्तु इस ठीक पहले मुगलकालीन भारत में न कोई शिक्षा की क्रामिक एवं उचित व्यवस्था थी, न जनता ने इसको प्रगति के लिए कोई क्रियात्मक कदम ही उठाया। फिर भी मस्जिद और मंदिरों में मुल्ला, काजी और पंडित धार्मिक भावना से प्रेरित होकर शिक्षा का संचालन करते थे। अतः जिज्ञासु भारतीयों के मन में तत्काल इस भावना का जागरण हुआ है कि जब मध्यकालीन भारत में न शिक्षा योजनाबद्ध थी, न विकसित और व्यवस्थित थी तथा न क्रामिक थी, तो सुदूर प्राचीन भारत में इसका स्वरूप क्या रहा होगा? अत्यंत ही स्वाभाविक है। इसलिए प्राचीन भारतीय शिक्षा-व्यवस्था अध्ययन अति आवश्यक है।

स्रोत

इसके अध्ययन के लिए किसी भी समुचित साधन का पूर्ण अभाव है। प्राचीन मनीषियों द्वारा इस पर किसी भी व्यवस्थित ग्रंथ की रचना नहीं की गई थी। फिर भी वैदिक साहित्य तथा महाकाव्यों में प्रसंगवश इसकी चर्चा की गई है। इनमें अलग से शिक्षा व्यवस्था के सम्बन्ध में तो चर्चा नहीं मिलने पर व्यक्ति विशेष के संदर्भ में इसका उल्लेख प्राप्त होता है। धर्मसूत्र तथा स्मृति ग्रंथों का उपयोग इसके लिए हम विशेष रूप से कर सकते हैं। इनमें कतिपय स्थलों पर उच्च शिक्षा के सम्बन्ध में विवरणात्मक विवेचना किया गया है। फिर भी इनसे साहित्य में भी इसकी चर्चा या-ता मिलती है। गुप्तकालोन तथा उसके बाद के अभिलेखों से भी इसके सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त होता है। कुछ विदेशी यात्री जो भ्रमण अथवा अध्ययन के लिए भारत आये थे उनके विवरण भी हमारे अध्ययन में सहायता प्रदान करते हैं। बौद्ध साहित्य में भी हमें बौद्ध मठों में दी जानेवाली बौद्ध धर्म के प्रचारार्थ शिक्षा का परिचय प्राप्त होता है। नोतिवाक्य के रूप में परम्परा से प्रचलित कुछ श्लोकों को संकलित कर हम शिक्षा के आदर्शों को जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। इसी प्रकार अन्य छिट-पुट प्रमाणों के आधार पर अपने ज्ञान को इस सम्बन्ध में व्यवस्थित कर सकते हैं।

महत्त्व

प्राचीन भारत में शिक्षा का महत्त्व बहुत अधिक था। विभिन्न धार्मिक ग्रंथों में शिक्षा की महती गरिमा का उल्लेख किया गया। सुभाषित-रत्न संग्रह का मनुष्य का तीसरा नेत्र बताया गया है। यह मनुष्य को अन्तर्दृष्टि प्रदान करती है तथा प्रत्येक कार्य को करने के लिए क्षमता देती है। महाभारत में विद्या का स्थान किसी भी वस्तु से बहुत उंचा बताया गया है विद्या की तुलना भारतीय साहित्य में माता, पिता और स्त्री से की गई है। इन्हीं के समान इसको कल्याणकारी बताया गया है। यही नहीं, इसको महत्ता यहाँ तक को गई है कि जिससे किसी भी कार्य के लिए उसमें पात्रता आती है। तभी वह धर्म और धन भी प्राप्त करता है तो अंत में सुख का कारण बनता है। यही कारण है कि इसको संशय-विनाशक, परोक्ष-दर्शन, शास्त्रों का लोचन आदि कहा गया है। यहाँ तक इसकी गरिमा बताई गई है जो विद्याविहीन: है इसलिए वह अंधा है। निरुक्त में कहा इसका संशय-विनाशक, परोक्ष-दर्शक, शास्त्रों का लोचन आदि कहा गया है। यहाँ तक इसकी गरिमा चताई गई है जो विद्याविहीन है यह अंधा इसलिए है। निरुक्त में कहा गया है विद्याविहीन: पशुभिः समना (16) वेद में भी कहा गया है कि यदि एक व्यक्ति दूसरे की अपेक्षा अधिक विवेकशील तथा विद्वान है तो इसलिए उसको दृष्टि पैनी हो गई है और बुद्धि तीक्ष्ण (10/717) इसी से यहाँ माना जाता है कि विद्या से हो विप्रत्व को उपलब्धि होती है-विद्या याति विप्रत्वम्। मात्र ज्ञान-चक्षु को ही विकसित करके शिक्षा शान्त नहीं होती थी, अपितु यह समाजीकरण की भावना को भी उद्वेलित करती थी। इसलिए मनु ने बताया है कि स्वच्छता तथा सामाजिक व्यवहार का ज्ञान बालक की सबसे पहले करना चाहिए। इसी से विवेक को भावना बालक में आती है जिससे वह जीवन में उचित या अनुचित के भेद कर सकता या एवं दोषों से अपनी रक्षा कर पाता था। उस समय बालकों को लाठी, प्राणायाम, नमस्कार आदि को भी शिक्षा दी जाती थी। इससे पढ़ने के साथ शारीरिक स्वास्थ्य भी ठीक रहता था। शिक्षा जोविकोपार्जन की भी साधन थी। एक श्लोक में कहा गया है कि तोता राम-राम रटने मात्र से हो जब भोजन पा जाता है तो विद्वान को इसके लिए क्या चिन्ता है। इसी से मनुष्य में बल का स्रोत माना गया है। अतएव यह न केवल भौतिक सुख और सम्मान का स्रोत है अपितु इसके द्वारा आध्यात्मिक लाभ भी प्राप्त होता है, और अधिक महत्त्वपूर्ण है। जो केवल इसे जीविका को माध्यम बनाते हैं वह

समाज में हसी के पात्र बनते हैं और इन्हें हेय दृष्टि से देखा जाता है। इस उपयुक्त वर्णन के पश्चात् यही निश्चय होता है कि प्राचीन भारत में विद्या का महत्व आज से कहाँ उंचा स्वीकार किया गया है।

अर्थ

वर्तमान शिक्षा के जिस प्रकार दो अर्थ निश्चित करते हैं-एक व्यापक तथा दूसरा संकुचित ठीक उसी प्रकार डॉ. अनंत सदाशिव अत्तेकर ने भी शिक्षा के प्राचीन काल में दो अर्थ व्यापक एवं संकुचित, बताये हैं। व्यापक अर्थ से उनका अभिप्राय शिक्षा में आत्म संशोधन एवं आत्मविकास की प्रवृत्ति से ही है तथा संकुचित अर्थ में शिक्षा यह दोनों ही कार्य करती है, इसी से दो प्रकार के विद्यार्थियों को जान प्राप्त होता है-नैष्टिक और उपकुर्वाण। वाल्मीकि ने भी मेखलाधारो तथा ऋतुकाल में पत्नी समागम करने वाला कहा है। दूसरा, विद्या की अर्वाधि समाप्त होने पर गृहस्थ आश्रम में प्रवेश कर जाता था तथा इसके बाद भी चलती रहती थी। आप्तम्ब धर्मसूत्र में कहा गया है कि श्वेतकेतु आदि विचारकों के अनुसार स्नातक को भी प्रति वर्ष दो मास विद्यालय में रहकर अपनी शिक्षा की पुनरावृत्ति करनी चाहिए, जिससे अर्जित ज्ञान बना रहे। याज्ञवल्क्य ने अर्जित ज्ञान भूलना पाप माना है। यह तो शिक्षा का संकुचित अर्थ हुआ। किन्तु हमने देखा है कि शिक्षा द्वारा चरित्र का विकास, विवेक, स्वच्छता की भावना, समाजीकरण की प्रवृत्ति और आध्यात्मिक उपलब्धियों को प्राप्त किया जा सकता था। यह व्यापक शिक्षा का रूप है।

उद्देश्य

भारतीय शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य था धार्मिक भावना का जागरण। बालक का मस्तिष्क बड़ा लचीला होता है। जो भाव उसके मन में इस समय मैठा दिया जाता है वह चिरस्थायी बन जाता है। भारत में सब गुणों के सार का संकलन धर्म शब्द में अवगुण्ठित कर दिया गया है। इसीलिए धार्मिक भावना को ही भारतीय शिक्षा का मुख्य उद्देश्य बताया गया है। इसके लिए जात, प्रार्थना, त्योहार आदि पर बल दिया गया, जिसके द्वारा बात का आध्यात्मिक विकास संभव था। इसी के द्वारा उसमें दया का भाव जागृत होता था और भौतिकतावादी की अपेक्षा आध्यात्मिक वादी को और उसकी प्रवृत्ति उन्मुख की जाती है। यह बालक के चरित्र और आचरण को भी प्रभावित करता था। पर इसका अर्थ नहीं कि विद्यार्थी का एक मात्र कार्य था केवल धर्म की साधना में संसार त्याग करना। इसके लिए तो थोड़ी संख्या में नैष्टिक ब्रह्मचारी थे ही जो जीवन पर्यन्त गुरुकुल में हो रहते थे। बल्कि धार्मिक एवं दया की भावना द्वारा पालक को समाज के लिए एक उपयुक्त व्यक्ति बनाने का उपक्रम किया जाता था।

भारतीय शिक्षा का दूसरा आदर्श था चरित्र निर्माण। डॉ. वाल्तेयर ने इस प्रति को तुलना लॉक के विधार से की है जो इस मत का पोषण करता है कि केवल बौद्धिक विकास इतने महत्व का नहीं जितना चारित्रिक विकास। इसलिए महाभारत में कहा गया है कि वही शिक्षित है जो धार्मिक है। भारतीय विचारकों को दृष्टि से ज्ञान की अपेक्षा चरित्र की अधिक महत्ता थी। इसी से मनु ने कहा कि एक अच्छे चरित्र का व्यक्ति पर वेदविद में अधिक प्रशंसनीय है जो जीवन, विचार और क्रियाओं में अपवित्र हो। उसके विकास के लिए हो गुरु के माथ बालक को समान से दूर रखा जाता है। गुरु नित्य उपदेश देता रहता था तथा जो दैनिक प्रार्थनाएँ करनी पड़ती थी। उनका उद्देश्य यही था कि बालक के मस्तिष्क पर एक स्थायी छाप इन गुणों की पड़े जिसमें शुरु से ही इसी दिशा की ओर उसका चरित्र विकसित हो सके। विद्यार्थियों को आदर्श चरित्र वाले व्यक्ति की ओर उन्मुख किया जाता था, जैसे राम, कृष्ण, सीता आदि तथा उन्हीं के सम्बन्ध को कभाएँ सुनायी जातो थी।

यद्यपि पूर्णरूप से पुराने भारतीय में व्यक्तित्व का विकास हमारा एक महत्वपूर्ण आदर्श रहा है फिर भी यह भ्रामक धारणा है कि भारतीय शिक्षा में व्यक्तित्व के पूरे विकास को कोई स्थान नहीं था। उनका व्यक्तित्व दलित और कुण्ठित होता था पर यह धारणा अमान्य है क्योंकि 500 ई०पू० तक प्रत्येक व्यक्ति को व्यावसायिक स्वतंत्रता थी। उसके बाद समाज में जटिलता आती गई और प्रत्येक व्यक्ति के अपने पैतृक व्यवसाय को ही स्वीकार करना पड़ता था। फिर भी मेघावी को उनकी रुचि के अनुसार व्यवसाय चुनने की स्वतंत्रता यो या प्रारंभ से ही बालक में

आत्म अभिमान, आत्मविश्वास एवं आत्मसर्मपण की भावना पर बल दिया जाता था जो आलोक विद्याध्य समाप्त कर लेता था। उसे समाज में आदर का स्थान प्रदान किया जाता था। उसे निष्ठा की दृष्टि से देखते थे इसी से अभिमान की जागृत होती थी। बालक में आत्मविश्वास की भावना उत्पन्न करने के लिए शास्त्रार्थ की व्यवस्था थी जिसमें विषय का आत्मवल के आधार उसे तर्क प्रस्तुत करना पड़ता था। इसका श्रीगणेश, उपनयन संस्कार के समय से ही हो जाता था कि देवी शक्तियाँ बालक को उसकी ल प्राप्त में सहायक होंगी। संभवतः यही कारण था कि धनी एवं निर्धन सभी बालक समान रूप से भिक्षाटन करते थे जिससे पारस्परिक भेद उत्पन्न हो नहीं होने पाता था। इस समय बालक को वस्त्र, भोजन, जीवन-यापन आदि में नियमित जीवन व्यतीत करना पड़ता था यह आत्म-विश्वास की भावना पर बल पड़ता था। पर आज-आत्म नियन्त्रण से अभिप्राय आत्मकुण्ठा नहीं है। आत्मविश्वास हेतु बालक साधारण भजन, संयमित जीवन, ब्रह्मचर्य पालन एवं सामान्य आवश्यक वस्त्रों पर ही निर्भर रखा जाता था इसके व्यावहारिक प्रयोग लिए हो संभवतः शिक्षा में तर्क की प्रणाली अपनाई गई थी कि बालक अपने को आत्म-नियंत्रण में रखते हुए बाद-प्रतिवाद कर सके प्रकार चरित्र और व्यक्तित्व दोनों का ही विकास शिक्षा का आदर्श बन गया। बालक में न्याय की प्रवृत्ति को भी स्वतंत्र रूप से विकसित करने पर बल दिया जाता था विषय के पक्ष एवं विपक्ष से हो प कराकर विद्यार्थी को छोड़ दिया जाता था यहाँ विद्यार्थी स्वतः निर्णय करता था कि उचित क्या है? आत्म-विश्वास की भावना पर बल पड़ता था। पर आज आत्म नियन्त्रण से अभिप्राय आत्मकुण्ठा नहीं है। आत्मविश्वास हेतु बालक की साधारण भोजन, संयमित जीवन, ब्रह्मचर्य पालन एवं सामान्य आवश्यक शर्तों पर ही निर्भर रखा जाता था। इसके व्यावहारिक प्रयोग के लिए ही संभवतः शिक्षा में तर्क की प्रणाली अपनाई गई थी कि बालक अपने को आत्म नियंत्रण में रखते हुए वाद प्रतिवाद कर सके। इस प्रकार पति और व्यक्तित्व दोनों का ही विकास शिक्षा का आदर्श बन गया। बालक में न्याय की प्रवृत्ति को भी स्वतंत्र रूप से विकसित करने पर बल दिया जाता था विषय के पक्ष एवं विपक्ष से ही परिचित कराकर विद्यार्थी को छोड़ दिया जाता था। वहीं विद्यार्थी स्वतः निर्णय करता था कि उचित क्या है?

समाज-कल्याणकारी प्रवृत्ति पर बल देना शिक्षा का दूसरा प्रमुख आदर्श था। बालक एक सामाजिक प्राणी है। उसे समाज में ह रहना पड़ता है। इसीलिए उनमें जन-कल्याण की प्रवृत्ति जागृत करने पर बल दिया गया। उसे पुत्र प्रजनन करना होता था समाज के लोग के साथ रहना पड़ता था। इसके लिए व्यावहारिक ज्ञान की शिक्षा दी गई थी तथा शिक्षा में भिक्षाटन को व्यवस्था चलायी गयी थी विद्यार्थी के मन में या अनुभूति हो कि समाज ने ही उसके लिए भोजन गव आदि जुटाया था। इससे जण होने के लिए समाज कल्याण की शिक्षा विभिन्न सोपानों के साथ-साथ दे पाते थे। विभिन्न आवश्यक व्यवसायों का विधान भी ऐसा ही बना दिया गया था कि अधिक से अधिक सामाजिक कल्याण उससे संभव हो सका। इस समय में वैद और पौ के व्यवसाय को हम ले सकते हैं। जिसका आदर्ग अमित और देश की पुकार पर सदैव सैषा के भी अभिद्धि होती थी। लिए प्रत्येक परिस्थिति में तत्पर रहता था। इससे सामाजिक क्षमता बढ़ती थी तथा प्रसन्नता को संस्कृति का प्रसार शिक्षा का दूसरा महत्वपूर्ण उद्देश्य है। इस समय छपाखाने नहीं थे, अतएव शिक्षा कंठा को जाती थी। आणव वैदिक साहित्य के भूल तत्वों को स्मरण कर संक्षिप्त करना तथा आगे आने वाली पीढ़ी को प्रदान करना जिससे शिक्षा को अनवराता बनी रहे, विद्यार्थी का कर्तव्य होता था। पीछे चलकर विकासमान ज्ञान को अधिक प्रौढ बनाने के लिए एक-एक अंग छंद, ज्योतिष, व्याकरण, दर्शन आदि का अध्ययन एक-एक वर्ग ने अपने जिम्मे ले लिया, जिससे ज्ञान की मर्यादा बनी रहे। इसलिए जहाँ विधान किया या उसमें ऋषि ऋण को प्रमुख माना गया और इससे उऋण के लिए आवश्यक था कि ब्रह्मचारी को ज्ञान प्राप्त हो कि विधिवत् रूप से वह इसके लिए यज्ञ करे। इसी प्रकार पितृ-ऋण से उऋण होने के लिए पुत्र का प्रजनन तथा उसे शिक्षित करना धर्म था। इसके अतिरिक्त माता, पिता, वृद्धों का आदर, स्वाध्याय तथा ऋषि तर्पण भी उऋण होने के माध्यम थे।

